प्राक्कथन

संस्कृत-व्याकरण की परम्परा : वेदाङ्ग

विश्व-साहित्य में वेदों की प्राचीनता सर्वमान्य है। अतः भारतीय परम्परा में प्रत्येक विषय का सम्बन्ध वेदों से ही जोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। इस हेतु व्याकरण-शास्त्र के आदिम स्रोत को ढूँढने के लिए वेदों के अभिमुख होना पड़ता है। 'वेदाङ्ग' नामकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, व्याकरण तथा ज्यौतिष–इन छहों अङ्गों की पृथक् रूप में मान्यता वेदों के संहिता-रूप में निबद्ध होने तथा उनकी स्वाध्यायप्रवृत्ति के बाद ही सम्भव हुई हो। वैदिक-चिन्तन के साथ ही अर्थानुसन्धान के लिए शब्दों के विश्लेषण का आविर्भाव स्वाभाविक था। इसी विश्लेषण के फलस्वरूप इस अङ्ग का नाम 'व्याकरण' रखा गया। छहों अङ्गों में इसकी प्रधानता भी स्वीकार की गई—'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। उपर्युक्त छहों वेदाङ्गों में से 'शिक्षा' और 'निरुक्त' में उल्लिखित अनेक बातें विशुद्ध रूप से वर्तमान काल के प्रचलित व्याकरण के क्षेत्र में आती हैं। शिक्षा और निरुक्त—इन दोनों वेदाङ्गों के जो ग्रन्थ आजकल उपलब्ध हैं उनमें बहुत से वचन ऐसे विद्यमान हैं, जिन्हें हम पाणिनीय व्याकरण से अभिन्न और समान रूप में पाते हैं। इस प्रकार व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त, ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। शिक्षा और निरुक्त एक तरह व्याकरण के पूरक अङ्ग हैं। शेष तीनों वेदाङ्गों का सम्बन्ध वेदों से अवश्य है, व्याकरण से नहीं। इस दृष्टि से भर्तृहरि ने भी छहों अङ्गों में व्याकरण को सर्वप्रथम और सर्वप्रधान अङ्ग माना है—'प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः'।

वैदिकव्याकरण : प्रातिशाख्य

विशुद्ध रूप में वैदिक शाखाओ से सम्बद्ध शब्दों का अन्वाख्यान प्रातिशाख्यों में मिलता है। इनका वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद की शाखाओं से सम्बद्ध होने के कारण इनका नाम 'प्रातिशाख्य' रखा गया। प्रातिशाख्यों में वेद की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध व्याकरण के नियम दिए गए हैं। इन में वर्णोच्चारण-शिक्षा, संहिता का पद पाठ में परिवर्तन और पदपाठ का संहिता में परिवर्तन, सन्धिविज्ञान, स्वरविधान, पदों का विभाजन, स्वरसंचार आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इसके साथ ही प्रातिशाख्यों में व्याकरण के पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, जिन्हें परवर्ती वैयाकरणों ने उसी रूप में ग्रहण किया है। प्रातिशाख्यों में 'ऋक्प्रातिशाख्य' सबसे प्राचीन माना गया है। अनेक शाखाओं के नाम पर वाजसनेय-प्रातिशाख्य, साम-प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, मैत्रायणीय-प्रातिशाख्य, अथर्वप्रातिशाख्य आदि सुप्रसिद्ध हैं।

प्रातिशाख्यों के पूर्व भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुछ ऐसे संकेत विद्यमान हैं, जिससे यह विदित होता है कि 'व्याकरण' शास्त्र की पर्याप्त चर्चा उस युग में होती रही हो। अथर्ववेद से सम्बद्ध 'गोपथब्राह्मण' में निम्नलिखित प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है—धातु, प्रातिपादिक, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, स्वर, उपसर्ग, निपात, वर्ण, अक्षर, पद, संयोग आदि। इसके अतिरिक्त मैत्रायणी संहिता में ६ विभक्तियों का उल्लेख विद्यमान है। ऐतरेय-ब्राह्मण में वाणी की सात विभक्तियों की ओर निर्देश किया गया है। वस्तुतः संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थों का उद्देश्य 'व्याकरण' का निर्वचन करना नहीं था। यह केवल प्रासङ्गिक रूप में जिज्ञासा मात्र है। आगे चलकर प्रातिशाख्यों ने इस कार्य को पूरा किया तथा उन्हें ही व्याकरण का प्रारम्भिक रूप समझना चाहिए। प्रातिशाख्यों के रूप में वैदिक काल में व्याकरणशास्त्र के उदय और विकास का यह परिणाम हुआ कि परवर्ती व्याकरण-ग्रन्थों के रचयिताओं को प्रातिशाख्यों से उपयुक्त सामग्री मिली। विशेषतः पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में वाजसनेयी प्रातिशाख्य से उपधा, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, आम्रेडित आदि पारिभाषिक शब्दों को उसी रूप में ग्रहण कर लिया तथा कई सूत्रों को भी कुछ परिवर्तन के साथ संगृहीत किया।

यास्क

इस प्रसङ्ग में यास्क के निरुक्त की चर्चा करना आवश्यक है। यद्यपि 'निरुक्त' को व्याकरण का ग्रन्थ नहीं माना जाता, तथापि शब्दों की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के सम्बन्ध में प्रक्रिया दिये जाने के कारण वह व्याकरण से साम्य रखता है। प्रातिशाख्य के अनुसार शब्दों के ये चार भेद—नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात—इन्होंने भी स्वीकार किये हैं। पाणिनि से पूर्ववर्ती यास्क भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हैं। आधुनिक इतिहासकार यास्क को ८०० ई० पू० मानते हैं।

इस प्रकार पाणिनि के पूर्व व्याकरणशास्त्र की पूर्वपीठिका तैयार हो चुकी थी। व्याकरण का यह उदयकाल इस शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह इस शास्त्र का सर्जनात्मक युग था, जिसमें पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने अपनी रचनाओं द्वारा व्याकरण केमौलिक तथ्यों का निर्वचन प्रस्तुत किया। व्याकरण शास्त्र में महर्षि पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की मुख्यता ने व्याकरण को प्रौढता के शिखर पर पहुँचा दिया।

त्रिमुनि व्याकरण

संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि युगपुरुष के रूप में आविर्भूत हुए। उन्होंने अतीत का संवल लेकर एक ऐसे व्याकरण की रचना की जिसने तत्कालीन तथा भविष्य में प्रयोग की जानेवाली संस्कृत-भाषा का मार्गदर्शन किया। पाणिनि

ने अपने समय से पूर्व वैदिक और लौकिक साहित्य का सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन कर इन दोनों के बीच ऐसा तादात्म्य स्थापित किया जो संस्कृतभाषा के परिष्कृत रूप को चिरस्थायी बनाने के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ। पाणिनि को इस कार्य में पूर्ण सफलता मिली। वैदिक प्रयोगों को मान्यता देने के साथ ही उन्होंने लौकिक संस्कृत को ऐसी नियमबद्ध शृङ्खला में आबद्ध किया, जिसने उसे स्थिरता प्रदान की। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक रहा। उन्होंने अपने समय तक प्रचलित सभी शब्दों को, जो संस्कृत में समा चुके थे, संस्कृत के विशाल दायरे में लाने का अभूतपूर्व प्रयास किया। इसके फलस्वरूप जनसाधारण की दृष्टि में पाणिनीय-व्याकरण ही संस्कृत-व्याकरण का पर्यायवाची शब्द बन गया। इसका एकमात्र कारण उनकी अष्टाध्यायी की विशेषता थी, जिसे एकस्वर से विश्व का सर्वाधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक व्याकरण-ग्रन्थ स्वीकार किया गया।

पाणिनि के आविर्भाव के साथ ही उनके पूर्ववर्ती वैयाकरणों का तेज मन्द हो गया और उन प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों का भी धीरे-धीरे लोप होता चला गया। उनमें से बहुतों का तो केवल नाम ही अवशेष रह गया है। फिर भी दस वैयाकरण ऐसे रहे जिनके मतों का उल्लेख पाणिनि ने अपने सूत्रों में प्रसङ्गवश किया है। यह पाणिनि की महत्ता थी कि उन्होंने इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का आधमर्ण्य स्वीकार किया है। उनके नाम हैं—आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक तथा स्फोटायन। इनमें से दो वैयाकरणों का विशेष प्रभाव रहा और यास्क ने भी उनका उल्लेख अपने निरुक्त में किया है। शब्दों की रचना के सम्बन्ध में ये दो वैयाकरण—गार्ग्य और शाकटायन—अपने-अपने पृथक् मतों के कारण भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में आज भी सुविदित हैं। इनमें से गार्ग्य का यह मत था कि केवल वे ही शब्द धातुज' माने जा सकते हैं, जिनमें धातु और प्रत्यय स्पष्टतया अभिलक्षित हो सकें। इसके विपरीत शाकटायन ने सभी शब्दों को धातुज माना है। शाकटायन के मत का ही प्रतिपादन यास्क ने अपने निरुक्त में किया है, जो आगे चलकर सिद्धान्त के रूप में मान्य हुआ। पाणिनि भी इसी मत के पोषक हैं।

इन दस वैयाकरणों के अतिरिक्त अन्य व्याकरण-प्रवक्ता भी प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका पाणिनि की अष्टाध्यायी में तो उल्लेख नहीं हुआ है तथापि उनमें से इन्द्र, काशकृत्स्न, पौष्करसादि, भागुरि माध्यन्दिनि तथा वैयाघ्रपद्य का उल्लेख पाणिनि के उत्तरवर्ती विद्वानों ने अवश्य किया है। इनके अतिरिक्त भी पाणिनि ने कहीं-कहीं अपने सूत्रों में पूर्वाचार्यों का प्रतीकात्मक उल्लेख किया है। अधिक आचार्यों का मत सूचित करने के लिये पाणिनि ने उनका पृथक् नाम-निर्देश न कर 'एकेषाम्' 'सर्वेषाम्' आदि पदों का आश्रय लिया है। इसके साथ ही पाणिनि ने अपने समय की बोलियों का पारस्परिक विभेद दर्शाने के लिये 'प्राचाम्'

'उदीचाम्' आदि शब्दों का प्रयोग कर उस समय के पूर्वीय भाग और उत्तरीय भाग के वैयाकरणों का सामूहिक मत सूचित किया है।

उस समय वैदिक और लौकिक संस्कृत के साथ जन-साधारण में प्राकृत भाषा का भी प्रयोग होता रहा। बाद में प्राकृत और लौकिक संस्कृत का अन्तर स्पष्ट करने के लिये 'भाषा' की अपेक्षा संस्कृत नाम रखना उचित समझा गया। जिस प्रकार खड़ी बोली, भोजपुरी, अवधी एवं व्रजभाषा में आजकल अन्तर परिलक्षित होता है उसी तरह उस समय भी संस्कृत और प्राकृत में अन्तर था। फिर भी जनता में दोनों का प्रचलन समानान्तर रूप में विद्यमान था। अतः पाणिनि के सामने यह भी एक बड़ी समस्या थी। भाषा के उस सङ्क्रमण-काल में पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना कर संस्कृत भाषा को व्याकरण के रूप में ऐसी धरोहर प्रदान की, जिससे परवर्ती आचार्यों के लिये शब्दशास्त्र का मार्ग प्रशस्त हो गया तथा उन आचार्यों ने पाणिनि की अष्टाध्यायी को ही आधारभूत ग्रन्थ मानकर इस शास्त्र पर विचार करना आरम्भ किया।

कई शताब्दियों बाद पाणिनि की समन्वयात्मक बुद्धि के पारखी कात्यायन को सर्वप्रथम यह प्रतीत हुआ कि अपने महान् उद्देश्य की पूर्णता के प्रयास में पाणिनि की पकड़ में कहीं-कहीं कुछ कमी रह गई है। तदनुसार उन्होंने स्वयं वार्तिकों की रचना की। अवशिष्ट नियमों को उनमें समेटते हुए अष्टाध्यायी के पूरक-रूप में वार्तिकग्रन्थ को उन्होंने प्रस्तुत किया। अनेक विदेशी और देशी विद्वानों ने कात्यायन के इस प्रयास में विरोध की भावना भले ही पाई हो किन्तु उसमें शाश्वतिक विरोध की कोई गुंजाइश नहीं थी। वस्तुतः कात्यायन ने पाणिनि की समीक्षा ही की है। इस प्रकार इन्होंने १५०० वार्तिकों का समावेश किया।

इन दोनों आचार्यों—पाणिनि और कात्यायन—के प्रयासों में पारस्परिक समन्वय को समझने के लिए एक अन्तर्दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता थी। उसे शेषावतार पतञ्जलि ने पहचान लिया। इन्होंने कात्यायन की तीखी पूरक-दृष्टि का आशय भी समझा। इसके साथ ही उन्हें यह भी आभासित हुआ कि कात्यायन के अनेक वार्तिक ऐसे हैं जिनके अस्तित्व के बिना भी पाणिनि के सूत्रों की उपादेयता में कोई कमी नहीं आसकती। पतञ्जलि कुछ और आगे बढ़े, उन्होंने पाणिनि की द्विरुक्तता को भी अपेक्षित नहीं समझा और स्थान-स्थान पर पाणिनि-सूत्रों के प्रत्याख्यान के रूप में अपने बुद्धिवैशद्य का परिचय दिया फिर भी पतञ्जलि पाणिनि के पोषक ही रहे। वे पाणिनि की सरणि में पूर्णता को खोजना चाहते थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर पाणिनि के समान कात्यायन के मत की समीचीनता पर प्रसन्नता ही अभिव्यक्त की। पतञ्जलि ने अधिकतर कात्यायन के वार्तिकों को पाणिनीय सूत्रों का उद्घोषक माना है और वे एक प्रकार से पाणिनि के अनुयायी ही हैं। इस ऊहापोह से पतञ्जलि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कात्यायन के कतिपय वार्तिकों को ही अनिवार्य माना जा सकता है। उनकी इस जिज्ञासा

ने दोनों आचार्यों की कृतियों में सत्यान्वेषण करने पर ही विश्राम किया। इस नीर-क्षीर-विवेक से पतञ्जलि की साख और बढ़ी तथा पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में पतञ्जलि के सिद्धान्तों को अधिक मान्यता मिली—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'। इन विशेषताओं ने पतञ्जलि के महाभाष्य को अपूर्व कृति बना दिया। यद्यपि पतञ्जलि से पूर्व भी व्याडि, कुणि प्रभृति आचार्यों के अनेक व्याख्याग्रन्थ बन चुके थे, किन्तु 'शब्दानुशासन' के क्षेत्र में युगान्तरकारी रूप में केवल पतञ्जलि के महाभाष्य को ही चिरस्थायी मान्यता मिली।

पाणिनि

पाणिनि की स्थिति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। विद्वानों में अब भी मतभेद है। श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि का समय २८०० ई० पू० निर्धारित किया है। म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने पाणिनि की स्थिति १२०० ई० पू० बतलाई है। इन्होंने यह तर्क दिया है कि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि इनमें से प्रत्येक के मध्य ५०० वर्ष का अन्तर होना चाहिये। पतञ्जलि को २०० ई० पू० मानने पर ७०० ई० पू० कात्यायन तथा १२०० ई० पू० पाणिनि का समय हो जाता है। डॉ० गोल्डस्टूकर तथा डॉ० बेलवलकर पाणिनि को ७०० ई० पू० में होना मानते हैं। इन विद्वानों के अतिरिक्त डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० माना है। आधुनिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाणिनि का समय ७०० ई० पू० के आस-पास ही होना चाहिए। पाणिनि के ईसापूर्व अष्टम शताब्दी में होने के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'निर्वाण' और 'श्रमण' शब्दों के प्रयोग को मुख्यतया आधार माना है। उनके अनुसार पाणिनि ने 'निर्वाण' शब्द को विशिष्ट अर्थ (मोक्ष) का बोधक नहीं माना है, अन्यथा पाणिनि उस विशेष अर्थ का निर्देश करते। इसी को अभिलक्षित कर "निर्वाणोऽवाते" सूत्र (८-२-५०) की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने 'निर्वाणोऽग्निः', 'निर्वाणो दीपः', 'निर्वाणो भिक्षुः' आदि उदाहरणों में 'निर्वाण' शब्द का अर्थ 'शान्त होना' किया है। इसके अतिरिक्त 'श्रमण' शब्द का संन्यास अर्थ भी पाणिनि के पूर्व उपनिषत्काल में प्रचलित रहा। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी 'श्रमण' शब्द का प्रयोग 'सर्वोपाधि' की निवृत्ति के अर्थ में किया गया है। अतः बुद्धकाल के पूर्व भी 'श्रमण' शब्द का प्रयोग परिव्राजक के अर्थ में होता रहा है। फलतः पाणिनि बुद्ध के पूर्ववर्ती ही हैं। पाणिनि ने अपनी प्रतिभा के बल पर अष्टाध्यायी की रचना की। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार चरण (पाद) हैं। प्रत्येक चरण (पाद) के सूत्रों की संख्या परस्पर भिन्न है। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में लगभग ४००० सूत्र हैं। व्याकरणीय प्रक्रिया की दृष्टि से 'अष्टाध्यायी' के तीन विभाग किये जा सकते हैं—१—वाक्यों से

पदों का संकलन (१-२ अध्याय), २—पदों का प्रकृति-प्रत्यय विभाग (३-५ अध्याय) तथा ३—प्रकृति-प्रत्ययों के साथ आदेश-आगम आदि का संयोजन कर परिनिष्ठित पदों की निष्पत्ति (६-८ अध्याय)। तदनुसार अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में शास्त्रीय व्यवहारोपयोगी संज्ञाओं का संकलन है। इन संज्ञाओं के अतिरिक्त प्रकरण-गत उपपद आदि संज्ञायें अन्यत्र तत्तत्प्रकरणों में भी संकलित की गई हैं। संज्ञाओं के साथ परिभाषाओं के सादृश्य होने से उनका समावेश भी संज्ञाओं के साथ ही हुआ है। द्वितीय अध्याय में समास तथा कारक-प्रकरण सन्निविष्ट हैं। तृतीय अध्याय में 'कृत्य' एवं 'कृत्' प्रत्ययों का समावेश है। चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय में तद्धित प्रत्ययों का विवरण दिया गया है। षष्ठ अध्याय में तिङन्त, सन्धि तथा स्वरों के सम्बन्ध में नियम बतलाये गये हैं। सातवाँ अध्याय अङ्गाधिकार (सुबन्त और तिङन्त) के नाम से प्रख्यात है। अन्तिम अष्टम अध्याय में द्वित्व-विधान, स्वर-वैदिक प्रक्रिया, सन्धि प्रकरण, षत्व तथा णत्व विधायक सूत्रों का समावेश किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम तीन पाद 'त्रिपादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो पूर्ववर्णित सवा सात अध्यायों की दृष्टि में असिद्ध माने जाते हैं। इनमें ऐसे ही विधान समाकलित किये गए हैं। अष्टाध्यायी के परिशिष्ट के रूप में धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन तथा शिक्षासूत्र भी पाणिनि द्वारा रचित माने जाते हैं। इन्होंने "जाम्बवतीविजय" नामक काव्य भी लिखा। श्रीयुत युधिष्ठिर मीमांसक जी के कथनानुसार इनका 'द्विरूपकोष' नामक एक ग्रन्थ 'इण्डिया आफिस पुस्तकालय, लन्दन' में सुरक्षित है। पाणिनि की अष्टाध्यायी ने संस्कृत-भाषा को संयमित कर सदा के लिये एक रूप बना दिया। पाणिनि ने अपने युग तक उपलब्ध साहित्य का अनुशीलन कर परीक्षण करने के बाद व्याकरण-ग्रन्थ का निर्माण किया (लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्)।

पाणिनि को शालातुरीय कहा जाता है। तदनुसार इनके पूर्वज 'शलातुर' ग्राम के निवासी थे। पुरातत्त्वविशारदों के अनुसार पेशावर में अटक के समीप 'लाहुर' ग्राम ही प्राचीन शलातुर है। इनके गुरु उपवर्षाचार्य थे। तक्षशिला में इन्होंने विद्या प्राप्त की। यह किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई, अतः वैयाकरण त्रयोदशी को अनध्याय रखते हैं।

कात्यायन

पाणिनि और पतञ्जलि के मध्य विचारों की शृङ्खला को जोड़ने वाले कात्यायन रहे। इन्होंने वार्तिक लिखे। वार्तिकों का वास्तविक रूप इस समय पृथक् उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य से ही कात्यायन के वार्तिक पहचाने जा सकते हैं। भाष्यकार ने वार्तिकों का उत्थापन कर सूत्रों के साथ उनकी आवश्यकता और अनावश्यकता पर विचार किया है। पाणिनि द्वारा अप्रयुक्त अनेक वैदिक तथा प्राचीन लौकिक शब्दों के सम्बन्ध की पूर्ति वार्तिकों द्वारा हो जाती है। कात्यायन

दाक्षिणात्य थे। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि का निर्देश ही प्रमाण माना जाता है—'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, लोके वेदे इति प्रयोक्तव्ये लौकिकवैदिकेषु इति प्रयुञ्जते। अधिकतर विद्वान् इन्हें ई० पू० पाँचवी शताब्दी में होना मानते हैं।

वार्तिक एक प्रकार से सूत्रों के व्याख्यान हैं। वृत्तिग्रन्थ भी सूत्रों के व्याख्यान ही हैं। तथापि कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रक्रिया के अतिरिक्त व्याकरण की दार्शनिकता का भी विवेचन किया है, जिससे यह व्याकरण केवल शब्दरचना का ही साधन न रहा, किन्तु शब्दार्थ के गम्भीर तत्त्वों का उन्मेषक भी हुआ। वार्तिकों के अतिरिक्त कात्यायन की अन्य रचनायें ये हैं—(क) स्वर्गारोहण काव्य, (ख) कात्यायनस्मृति, (ग) उभयसारिका भाग (नाटक), तथा (घ) भ्राजश्लोक। किंवदन्ती है कि पाणिनि के 'जाम्बवती-विजय' की होड़ पर कात्यायन ने 'स्वर्गारोहण' काव्य लिखा। इनके काव्य के विषय में 'पतञ्जलि' ने महाभाष्य में संकेत किया है—'वाररुचं काव्यम्'।

पतञ्जलि

पाणिनि व्याकरण को सर्वाङ्गीण बनाने में पतञ्जलि का योगदान सर्वदा स्मरणीय रहेगा। यह गोणिका के पुत्र थे तथा गोनर्द (गोंडा) के निवासी थे। इन्हें शेषनाग का अवतार माना जाता है। भोजराज की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार योगसूत्रप्रणेता **पतञ्जलि**, व्याकरणभाष्यकार **पतञ्जलि** तथा चरक-संहिता के रचयिता पतञ्जलि तीनों एक ही व्यक्ति थे—

> "योगेन चित्तस्य पदेन वाचा, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
> यो व्याकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥"

महाभाष्य में उल्लिखित अनेक उदाहरण-वाक्यों से विद्वानों ने पतञ्जलि का समय निर्धारण किया है। महाभाष्य के दो वाक्यों में 'लङ्' लकार के प्रयोग से ऐतिहासिक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'पतञ्जलि' पुष्यमित्र शुङ्ग के समकालीन थे। ये दो वाक्य हैं—(१) अरुणद् यवनः साकेतम् तथा अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्। यह घटना पुष्यमित्र के समय मिनेंडर के आक्रमण की सूचना देती है। उसकी सेना ने साकेत (अयोध्या) तथा माध्यमिका को घेरा था। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित दो वाक्यों में पतञ्जलि ने पुष्यमित्र का उल्लेख करते हुए वर्तमान काल (लट् लकार) का प्रयोग किया है—(१) इह पुष्यमित्रान् याजयामः तथा (२) पुष्यमित्रो यजते। इससे पुष्यमित्र और पतञ्जलि का समकालीन होना सिद्ध होता है।

पतञ्जलि ने पाणिनि के कृतित्व को अच्छी तरह समझ कर उसकी सूक्ष्मता का निदर्शन किया है। उन्होंने कात्यायन के वार्तिकों को पाणिनीय सूत्रों के पूरक के रूप में समझा तथा उनकी आवश्यकता को देखकर उनके औचित्य और अनौचित्य पर विचार किया है। उन्होंने पाणिनि के सूत्रजन्य-लाघव को मान्यता दी। भाष्यकार का प्रमुख उद्देश्य पाणिनि के सूत्रों की स्पष्ट व्याख्या कर उनके तथ्यों का निरूपण करना था। उनका अध्ययन व्यापक था। इस कारण

उनके महाभाष्य में वेद, शास्त्र, काव्य, इतिहास तथा दर्शन आदि सभी विषयों का समावेश है। महाभाष्य व्याकरण और व्याकरण-दर्शन—इन दोनों का आकर ग्रन्थ है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह सूत्रों और वार्तिकों के व्याख्यान के रूप में कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार और वार्तिककार के मत का विवेचन पतञ्जलि की व्याख्या के सहारे ही हो सकता है।